भारतीय संस्कृति और राष्ट्र

निर्मल वर्मा

पिछले दो महायुद्धों में 'जाति' और 'राष्ट्र' के नाम पर जो विकट नरसंहार हुआ, उसकी स्मृति आज भी एक दु:स्वप्न की तरह हमारी चेतना में जीवित है। यद्यपि इतिहास में उसे 'विश्वयुद्ध' कहा जाता है, किन्तु जिस भूमि-खंड में हिंसा का नाटक दोनों बार दुहराया गया, वह विश्व का एक छोटा-सा अंश ही था। यूरोप में—जहाँ राष्ट्रीय चेतना के बीज 'एक राज्य, एक राष्ट्र' के आधार पर पहली बार अंकुरित हुए—उसकी अँधेरी वटछाया धीरे-धीरे बढ़ते हुए सम्पूर्ण मानवीय चेतना को अपने में ढँक लेगी, यह आज भी एक अनहोनी घटना लगती है। अनहोनी इसलिए कि दो सौ साल पहले तक यूरोप के बाहर एशिया या अफ्रीका की कोई भी जाति यह कल्पना न कर सकती थी कि धरती पर उसके होने की पहचान अथवा उसकी अस्मिता की मर्यादा 'राष्ट्र' या 'जाति' या 'राज्यतंत्र' जैसी कसौटियों द्वारा आँकी जाएगी, जिनका उनकी सांस्कृतिक मान्यताओं में कोई स्थान नहीं है।

एक राज्य की बनावट के पीछे हमेशा एक संस्कृति की बुनावट छिपी रहती है, किन्तु स्वयं संस्कृति का आकार बहुत अंशों में उन बिंबों द्वारा निर्धारित होता है, जो मनुष्य अपने बारे में सँजोता है। ईसाई धर्म में जिस तरह ईश्वर की कल्पना मनुष्य के रूप में की गई है, उसी तरह यूरोपीय मनुष्य ने अपने रूप में राज्यतंत्र और समाज-व्यवस्था की परिकल्पना की है। दोनों में ही मनुष्य केन्द्र में है, जो उसे एक तरफ 'ईश्वर', दूसरी तरफ बाहरी जगत से जोड़ता है। अत: पिछले तीन सौ वर्षों में—विशेषकर रेनेसाँ के बाद—यूरोप में जिन राज्यों की स्थापना हुई, उसका सांस्कृतिक स्रोत वह 'छवि' थी, जो मनुष्य ने अपने बारे में बनाई थी—एक स्वायत्त, आत्मकेन्द्रित मनुष्य की छवि, जो अपने बाहर की दुनिया को भी स्वतंत्र, विशिष्ट राष्ट्रीय इकाइयों में विभाजित करके ही देख सकती थी। एक राज्यसत्ता और कुछ नहीं, अन्तत: एक व्यक्ति के आत्मनिष्ठ अहं का ही बृहत्तर रूप थी, जिसकी सत्ता और पहचान सिर्फ अन्य सत्ताओं के सन्दर्भ में ही बनती थी—कभी उनके साथ, कभी उनके विरुद्ध, किन्तु अपने में हमेशा स्वतंत्र, अलग और आत्मकेन्द्रित। यह ऐतिहासिक संयोग नहीं कि यूरोप में व्यक्तिनिष्ठ मनुष्य को आत्मग्रस्तता (डिग्निटी) और स्वतंत्र राष्ट्रों का आक्रामक आत्मबोध इतिहास के एक ही बिन्दु पर विकसित हुआ।

राष्ट्र और जाति की यह अहंकेन्द्रित अवधारणा यदि यूरोप तक सीमित रहती, तो शायद मानवता के लिए इतना बड़ा संकट उपस्थित न होता। यूरोप दुनिया नहीं है और दुनिया में यूरोप के बाहर ऐसी जातियाँ, जनसमूह और जीवन-पद्धतियाँ रही हैं, जो अपनी अस्मिता और अस्तित्व के लिए किसी भी केन्द्रीय, आत्म-सीमित राज्य-सत्ता का मुँह नहीं जोहतीं। यदि ये जनसमूह हजारों वर्षों से जीवित रहे हैं, तो किसी राज्य-सत्ता के आतंक अथवा बल-प्रयोग पर नहीं, बल्कि उन सहज और जीवनदायी विश्वासों के कारण जो उन्हें भूमि के एक खंड पर एक साथ रहने की अर्थवत्ता और सुरक्षा प्रदान करते हैं। भूमि का यह खंड—देश—यदि पवित्र और महत्त्वपूर्ण है, तो इसलिए कि वह उसे बाकी विश्व से जोड़ता है, इसलिए नहीं कि वह उसे दूसरों से अलग होकर भूगोल की राष्ट्रीय सीमाओं में आबद्ध करता है। इसीलिए इन विश्वासों के घेरे में जिस चेतना का विकास होता है, वह न राष्ट्र रूप में राष्ट्रीय है, न महज भौगोलिक,

वह सीधे-सीधे अपनी प्राणवत्ता उन लगावों से प्राप्त करती है, जो व्यक्ति के अहं का विस्तार न होकर अपने और दूसरे के बीच एक साम्य की मर्यादा निर्धारित करती है। विश्वासों की इन मर्यादाओं के परिवेश में ही एक मानव-समूह की जीवनधारा, उसकी लय और लौ रूपायित होती है। यही उसकी सांस्कृतिक चेतना का मुख्य प्रेरणा-स्रोत भी है।

यही चीज भारत को—यदि सही और सटीक ढंग से कहें तो भारतीय सभ्यता को—आधुनिक दुनिया के राष्ट्रों और राज्य-तंत्रों से अलग कर देती है। स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद हम भारत को एक राष्ट्र, एक राज्य-तंत्र मानने के इतने अभ्यस्त हो चुके हैं कि यह विश्वास करना कुछ मुश्किल लगता है कि इन सबसे पहले वह एक ऐसी सभ्यता का परिवेश रहा है, जिसके भीतर मनुष्य अपने जीवन के कुछ मूलभूत और मूल्यवान सत्यों को मूर्तिमान कर सके। इसलिए मैंने इस सन्दर्भ में 'संस्कृति' के बजाय 'सभ्यता' शब्द का इस्तेमाल करना अधिक उपयुक्त समझा। भारत एक तरफ़ हमें यूरोप की उस मध्यकालीन सभ्यता की याद दिलाता है, जब वह विभिन्न राष्ट्रीय इकाइयों में खंडित नहीं हुई थी, दूसरी तरफ़ वह हमें एशिया, अफ्रीका की उन जातियों की संस्कृति के निकट ले आता है, जिन्हें कभी एक ऐसी सुगठित सभ्यता का संरक्षण नहीं मिला, जो भारत को उपलब्ध थी। इस दृष्टि से जब भारत ने आधुनिक युग में प्रवेश किया तो वह न यूरोप की तरह आत्म-विभाजित था, न एशिया-अफ्रीका की जातियों की तरह संरक्षणहीन; एक सभ्यता की शैली सिर्फ़ लोगों के आचार-व्यवहार और विश्वासों द्वारा अनुशासित नहीं होती बल्कि उसमें इन व्यवहारों और विश्वासों को एकसूत्रित करनेवाला एक केन्द्रीय दर्शन, जीवन-दृष्टि का समग्रता-बोध हमेशा मौजूद रहता है, जो मनुष्य की जीवन प्रणाली को परिपोषित भी करता है और परिभाषित भी। इस अर्थ में भारत की विभिन्न जातियाँ अपनी सांस्कृतिक विशिष्टताओं के बावजूद एक सामूहिक सभ्यता-बोध के भीतर जीवित रह सकी हैं।

अचरज की बात नहीं कि आधुनिक युग में 'भारतीय सभ्यता' का अस्तित्व पश्चिम के लिए एक विडम्बना, एक पहेली, एक विरोधाभास जान पड़ता रहा है। यदि वह यूनान या मिस्र की सभ्यता की तरह महज़ ऐतिहासिक स्मृति का अवशेष होती, तो वह एक मृत किन्तु मूल्यवान सत्य हो सकती थी। यदि वह एक अफ्रीकी या लातिन अमेरिकी क़बीले की तरह कुछ प्रागैतिहासिक प्रथाओं का पुंज मात्र होती, तो हज़ारों नृतत्त्वशास्त्री उसकी चीरफाड़ करने यहाँ पहुँच जाते, या फिर अगर वह अपने को किसी धर्म-विशेष में सिकोड़कर एक असहिष्णु सम्प्रदायग्रस्त 'राष्ट्र' में बदल देती, तो भी वह ईरान या पाकिस्तान की तरह स्वीकार्य हो सकती थी । कठिनाई यह है कि मज़हब या राष्ट्र या क़बीले की किसी बनी-बनाई श्रेणी में भारत का परम्परागत सभ्यता-बोध संकुचित नहीं हो सकता।

यह सभ्यता-बोध यदि इतिहास के अंसख्य और असह्य प्रहारों के बावजूद जीवित रहा तो सिर्फ़ इसलिए कि भारत में आदि-जीवन के दर्शन-सूत्र महज़ पोथियों के भीतर नहीं—समकालीन भारतीय की स्मृति में प्रवहमान हैं। स्वप्न की तरह हर स्मृति की अपनी बिम्ब-भाषा होती है—वह कहीं से भी उत्प्रेरित हो सकती है, वैदिक ॠचाओं, पौराणिक कथाओं अथवा महाकाव्यों से। यह वैसी ऐतिहासिक स्मृति नहीं है, जैसी ग्रीस की सभ्यता एक आधुनिक यूरोपवासी के लिए स्मृति है, जिसे वह पुस्तकों अथवा संग्रहालयों में ही याद कर पाता है। भारतीय सभ्यता-बोध कोई बीती हुई याद न होकर आज भी मेहँदी की तरह हर व्यक्ति की जीवन-प्रणाली के कार्य अनुष्ठानों में रची-बसी है।

भारतीय सभ्यता की यह अद्‌भुत विशेषता रही है—जो उसके जीवन्त होने की मर्यादा है—कि वह 'अतीत' को व्यतीत न मानकर उसे समकालीन भारतीय जीवन की ऐसी प्रतीक-व्यवस्था में संयोजित कर पाई है, जो आज भी उतनी ही अर्थवान और संस्कार-सम्पन्न है, जितनी पहले कभी थी । यूरोप की इतिहास-चेतना वर्तमान और अतीत में जो सीधा-सीधा भेद करती है, वह भारतीय सभ्यता के परम्परा-बोध में एकदम बेमानी और अनावश्यक हो जाता है। पिछले

दो हज़ार वर्षों के दौरान विदेशी आक्रमणों, ऐतिहासिक उथल-पुथल और राजकीय परिवर्तनों ने इस 'परम्परा-बोध' को धूमिल और कलुषित अवश्य किया हो, किन्तु इतना अवकाश अवश्य दिया है कि वह कहीं-न-कहीं, किसी-न- किसी रूप से जीवित रह सके। इसीलिए एक भारतीय का सभ्यता - बोध उसे एक ऐसी समग्रता देता है, जो धर्म-सम्प्रदाय, राजनीति और राष्ट्रीयता के लेबलों में परिभाषित नहीं हो पाती, न ही उसकी अस्मिता उन सेक्यूलर चौखटों में फिट हो सकती है, जो आज के भारतीय सत्तारूढ़ वर्ग ने पश्चिम की राज्य-व्यवस्थाओं से उधार लेकर अपने समाज पर आरोपित करने चाहे हैं।

एक सभ्यता का समग्रता-बोध – क्या मतलब है इसका ? मेरा अभिप्राय अर्थों के उस तन्तुजाल, उस टेक्सचर से है, जहाँ सब धागे एक समूचे जीवन की अर्थ-व्यवस्था के पैटर्न बुनते हैं; एक का अर्थ दूसरे में खुलता है, दूसरे का अर्थ तीसरे से जुड़ा है—अर्थों की अन्योन्याश्रित व्यवस्था—जिसमें भीतर और बाहर का सम्बन्ध—मनुष्य की एकीकृत आत्मछवि और बाहरी जगत् की विविध अनन्त छवियाँ एक ही सूत्र मंप अन्तर्ग्रथित हैं। इस दृष्टि से एक भारतीय लेखक के लिए भारत का परिदृश्य आज भी उन पौराणिक प्रतीकों, मिथकों और स्मृतियों से उतना ही सघन, अर्थपूर्ण और स्पन्दनशील है, जितना मध्यकालीन यूरोप दांते के लिए और यूनान का क्लासिक युग एस्काइलस और सॉफ़ोक्लीस के लिए रहा होगा। यह सही है कि ये मनीषी और लेखक यूनान और रोमन राज्यों के 'नागरिक' थे, किन्तु यह उनके व्यक्तित्व का नगण्य पक्ष था। महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि वे अपने चिन्तन और सृजन-कर्म में एक ऐसे व्यापक सभ्यता-बोध का प्रतिपादन करते थे, जो उन्हें अपनी अखंडित विश्व-दृष्टि के भाषा-संकेतों, प्रतीकों और मिथक-बिम्बों से प्राप्त हुई थी। जिस क्षण यूरोप में सभ्यता-बोध की यह समग्रता खंडित हुई, उस क्षण मनुष्य के भीतर की अर्थ व्यवस्था भी छिन्न-भिन्न हो गई, गोएटे शायद यूरोप के अन्तिम मनीषी थे जिन्होंने अपने भीतर मनुष्य के सम्पूर्णता-बोध को बचाना चाहा था, किन्तु वह प्रथम साक्षी भी थे, जिन्होंने यूरोपीय सभ्यता-बोध को अपनी आँखों से विश्रृंखलित होते भी देखा था।

यह वह क्षण भी था, जब यूरोपीय मनुष्य अपने भीतर खंडित हुआ था, पहले जिन चीज़ों के मूल्य और अर्थ एक-दूसरे से अन्त:सम्बन्धित जान पड़ते थे, अब वे न केवल एक-दूसरे से अलग, बल्कि एक-दूसरे के विरोधी जान पड़ने लगे। सबसे विनाशकारी विभाजन तो मनुष्य के लौकिक जीवन और आध्यात्मिक अनुभवों के बीच हुआ— पहले जहाँ दोनों उसके भीतर एक सम्पूर्ण जीवन-दृष्टि में एकसूत्रित थे—वहाँ अब एक पक्ष की ज़िम्मेदारी राज्य ने और दूसरे पक्ष के दायित्व को चर्च ने आपस में अलग-अलग बाँट लिया। विज्ञान और दर्शन, ईश्वर और मनुष्य, लौकिक और अलौकिक के बीच जो दीवारें खड़ी हुईं, उन्होंने मनुष्य को भी एक आर्थिक प्राणी, एक धार्मिक प्राणी, एक राजनीतिक प्राणी जैसे अलग-अलग कठघरों में विभाजित कर दिया। संस्कृति के वे सब सेतु एक के बाद एक नष्ट होते गए, जो मनुष्य के सेक्यूलर जीवन को उसके आध्यात्मिक अनुभवों से जोड़ते थे।

ठीक यही विभाजन एक दूसरे स्तर पर भी शुरू हुआ, जब यूरोप में स्वायत्त राष्ट्र-सत्ताओं का विकास शुरू हुआ। यूरोपीय मानस में जहाँ पहले एक वृहत्तर संस्कृति का बोध था, जो जाति, भाषा और भौगोलिक सीमाओं का अतिक्रमण करता हुआ यूरोपीय मनुष्य को एक अखंडित परम्परा में ढालता था—वहाँ अब उसकी जगह राष्ट्रीय अस्मिता और स्वचेतना का भाव अधिक प्रमुख और महत्त्वपूर्ण था। बीसवीं शती तक आते-आते अलग-अलग देशों की राष्ट्रीय भावना और यूरोप के सांस्कृतिक बोध के बीच खाई इतनी चौड़ी हो गई कि पिछले दो महायुद्धों में लाखों जर्मन, अंग्रेज़ और फ्रांसीसी एक-दूसरे का विराट पैमाने पर संहार कर सकते थे, बिना एक क्षण यह महसूस किये कि वे सब एक

ही यूरोपीय सभ्यता और सांस्कृतिक परम्परा के उत्तराधिकारी हैं । इतिहास की यह क्रूर विडम्बना ही है कि सबसे अधिक यातना एक ऐसी जाति—यहूदियों को भुगतनी पड़ी, जिसका अपना कोई राष्ट्रीय परिवेश नहीं था, किन्तु जो यूरोप की सबसे पुरातन और समृद्ध परम्परा का प्रतिनिधित्व करती थी । किन्तु यहूदियों की यह परम्परा उनको लाखों की संख्या में उन यातना-गृहों में मरने से नहीं बचा सकी, जिनका निर्माण यूरोप की राष्ट्रीय धारा के सबसे प्रमुख समर्थक ने किया था। क्या इसे केवल ऐतिहासिक संयोग माना जाए कि हिटलर ने समूची यहूदी-संस्कृति को नष्ट करने का इतना व्यापक अभियान चलाया था—अथवा उसे केवल उस ऐतिहासिक प्रक्रिया की अन्तिम, तार्किक परिणति माना जाए, जो सभ्यता-बोध के विश्रृंखलित हो जाने के बाद यूरोपीय मानस के बीच एक काली दरार खींच गई थी?

यदि यूरोपीय इतिहास का यह दुखद अध्याय मैंने खोलना ज़रूरी समझा तो इसलिए कि उसके पन्नों पर कहीं भारतीय जीवन की पीड़ा भी अंकित है। यूरोपीय सभ्यता के अन्तर्विरोध यदि यूरोपीय मानस तक सीमित रहते तो शायद उसमें हमारी दिलचस्पी बौद्धिक जिज्ञासा के परे नहीं जाती। किन्तु कटु सत्य यह है कि दो सौ वर्ष पूर्व इसी आत्म-खंडित और अहंग्रस्त यूरोपीय चेतना ने एक हिंसात्मक शक्तिधारा के रूप में अनेक ग़ैर-यूरोपीय समाजों और संस्कृतियों में हस्तक्षेप किया था। मैं यहाँ अपने को सिर्फ़ भारतीय समाज में होनेवाले परिवर्तनों तक सीमित रखूँगा – इसलिए नहीं कि मैं संयोग से भारतीय हूँ—बल्कि इसलिए कि ग़ैर-यूरोपीय दुनिया में भारतीय सभ्यता अपनी मूल दृष्टि और बुनियादी मर्यादाओं में यूरोप के लिए सबसे बड़ी चुनौती प्रस्तुत करती थी। सभ्यता की यह अवधारणा यदि विचार या दर्शन या बौद्धिक-आध्यात्मिक स्तर पर सीमित होती तो किसी भी प्राचीन, पुरातन ' स्मारक' की तरह उसकी अवहेलना की जा सकती थी—जैसा कि यूरोपीय विजेताओं ने अनेक अमेरिकी, अफ्रीकी जातियों के साथ किया था - किन्तु भारतीय संस्कृति सिर्फ़ अतीत का अवशेष न होकर एक जीवन्त समाज-व्यवस्था में प्रवहमान थी और यह प्रवाह विशिष्ट भौगोलिक परिवेश में दो हज़ार वर्ष की ऐतिहासिक निरन्तरता में विराजमान था । इतिहास के प्रहारों द्वारा क्षत- विक्षत, जगह-जगह रुँधा हुआ, भ्रष्ट, मैला, विकृत – फिर भी क्रियाशील, अपने बिम्बों और प्रतीकों में प्राणवान, लाखों लोगों के जीवन में रचा-बसा, उनके जीवन और उनकी मृत्यु को लगातार एक अर्थवत्ता देता हुआ —उसमें वे सब मैले और पवित्र तत्त्व मौजूद थे, जिससे एक जीवन्त सभ्यता का चरित्र बनता है।

इसी सभ्यता का सामना अंग्रेज़ शासकों ने दो सौ वर्ष पूर्व किया था - बराबरी के स्तर पर नहीं, बल्कि एक औपनिवेशिक सत्ता के रूप में— जहाँ भारतीयों के लिए उसे स्वीकारने या अस्वीकारने की कोई स्वतंत्रता नहीं थी । अंग्रेज़ चूँकि एक ऐसी यूरोपीय संस्कृति के प्रतिनिधि होकर आए थे, जहाँ ऐतिहासिक चेतना केन्द्र में थी— जिसके आधार पर 'पिछड़े' और 'विकसित' समाजों के भीतर अन्तर किया जाता था, यह स्वाभाविक ही था कि वे भारत को उसकी 'वहशी रूढ़ियों और अन्धविश्वासों' से मुक्त करवाने का अभियान शुरू करें; यह तभी हो सकता था, जब वे उसे परम्परागत परिवेश उन्मूलित करके 'आधुनिक और पश्चिमी मनुष्य' की आदर्श इमेज में ढाल सकें। किन्तु इस सभ्यता की जड़ें इतनी गहरी थीं और उसकी मर्यादाएँ समूचे समाज को इतने व्यापक पैमाने पर परिचालित करती थीं कि वे उसे पूर्ण रूप से नष्ट नहीं कर सके, पर इस हद तक भ्रष्ट और विकृत ज़रूर कर सके जहाँ एक सभ्यता के आत्मबिम्ब धूमिल पड़ जाते हैं; एक जाति की स्वतंत्र मेधा और विवेकशक्ति—जो उसे अपने परम्परागत संस्कारों से प्राप्त होती है— सहसा सन्दिग्ध और भ्रान्तिपूर्ण बन जाती है। एक भारतवासी यूरोपीय मान्यताओं और जीवन-दृष्टि को स्वीकार न भी करे तो भी वह स्वयं अपनी मान्यताओं और जीवन-दृष्टि के प्रति शंकालु हो जाता है। दो शब्दों में कहें तो एक सभ्यता की परम्परागत चेतना पर एक ऐसी ऐतिहासिक चेतना आरोपित होने लगती है, जो अपने आग्रहों और

अवधारणाओं में मूलभूत से अलग है। दोनों के अस्वाभाविक और अप्राकृतिक सम्मिश्रण से भारत में जिस 'छद्म चेतना' का विकास हुआ, उसे जाने बिना हम उन भ्रान्तियों और छलनाओं की तह में न जा पाएँगे, जिनका शिकार उन्नीसवीं शती बंगाल का बुद्धिजीवी वर्ग बना और जिन्हें—इतिहास की विडम्बना देखिए—आज का सत्तारूढ़ बुद्धिजीवी समूचे समाज पर आरोपित करने में चेष्टारत है।

मैं आपका ध्यान कुछ ऐसी भ्रान्तियों की ओर आकृष्ट करना चाहूँगा, जिनका सम्बन्ध सीधा-सीधा निबन्ध के इस शीर्षक से है। ज़रा ध्यान दीजिए—उसमें जाति, देश, राष्ट्र जैसे शब्द आते हैं। हमारे लिए आज जो इन शब्दों का प्रचलित अर्थ है—क्या उसका हमारी जातीय संस्कृति से कोई सम्बन्ध बैठ पाता है? यह कुछ विचित्र जान पड़ेगा कि अंग्रेज़ी भाषा और यूरोपीय राजनीति शास्त्र के सम्पर्क में आने से पहले हमारे लिए जाति और राष्ट्र की परिभाषाएँ बिलकुल भिन्न थीं । भिन्न इसलिए थीं, क्योंकि उनके सन्दर्भ- बिन्दु यूरोपीय इतिहास के सन्दर्भ-बिन्दुओं से बिलकुल अलग थे। भारत में रहनेवाली एक जाति नहीं, बहुत-सी जातियों का सह-अस्तित्व किसी एक केन्द्रीकृत राज्य सत्ता पर निर्भर नहीं था, न ही उनके अस्तित्व के स्रोत किसी एक राष्ट्रीय अवधारणा द्वारा अनुशासित होते थे। अक्सर कहा जाता है— और यह भ्रान्ति भी हमारे पश्चिमी शिक्षित वर्ग में व्यापक रूप से प्रचलित है— कि अंग्रेज़ी राज ने अपने प्रशासन-तंत्र द्वारा भारत में बिखरी अनेकानेक जातियों, राज्यों, उपराज्यों को एक राजकीय, राष्ट्रीय इकाई में सुगठित किया था। क्या यह विदेशी सत्ता का चमत्कार था? अथवा जिसे अंग्रेज़ शासक 'जातियों का बिखराव' मानते थे, वह अपने में एक भ्रम था—क्योंकि वे इस तथाकथित बिखराव के पीछे उस संस्कृति के अन्तर्निहित स्मृति-संकेतों को नहीं देख सकते थे जो भारतीय सभ्यता को, उसकी समूची राजनीतिक विश्रृंखलता के बावजूद, एकसूत्रता प्रदान करते थे? एक पराये अजनबी को किसी शहर के वासी हमेशा एक 'भीड़' दिखाई देते हैं, उस भीड़ की लय और अन्तर्धारा का रहस्य सिर्फ़ उस नगर का वासी ही जानता है। अंग्रेज़ी शासक एक ऐसी सभ्यता से आए थे जो यूरोप की राष्ट्रीय सीमाओं में विभाजित हो चुकी थी... इसीलिए भारत की सभ्यता उनके लिए पहेली बनी रही जो बाहर से अलग-अलग मतों, सम्प्रदायों और जातियों में एक दूसरे से भिन्न होने के बावजूद— अपने भीतर की समग्रता में अखंडित थी।

(यह लेख निर्मल वर्मा की पुस्तक "भारत और यूरोप : प्रतिश्रुति के क्षेत्र" से लिया गया है।)